THE TIMES OF INDIA

Date: 01-06-26

Glitch. Retest. Repeat

NTA and CBSE have a lot to answer for. Their test systems have evidently failed, risking Indian youngsters' futures

TOI Editorials

The fiasco of CUET-UG 2026 (university entrance exams) is yet another alarming demonstration of NTA and CBSE's stunning institutional failure. Let's count the ways: repeated paper leaks, administrative chaos, leadership vacuum at NTA, 'technical glitches', embarrassing attempts at cover-ups, poor communication, and a breathtaking indifference to millions of students, whose futures hang in balance.

CUET-UG 2026 suffered a so-called technical glitch. Exam was delayed by hours. Several could not finish the test. For these kids, and those who left exam centres once the glitch happened (because it is so centralised, no one knows what's going on, and hearsay replaces official communication), there will be a re-test. How glibly authorities tell us, kids will have an "opportunity" to write the test again. How cruel. Do they have no idea the toll such an unending cycle of exams has?

NTA and CBSE have become symbols of ineptitude in their rushed drive to centralise and go digital. Instead of transitioning to digitised formats only after investments are complete, systems secure and fail-safe, and emergency response teams adequate, both NTA and CBSE scramble for damage control after every debacle. Each year, at NTA, reaction is episodic. Who is to blame, for the gap in oversight, during the implementation of security protocols, incorporated after NEET-UG 2024's leak? Paper-leak mafia appears to be getting the better of the Centre. Why did CBSE transition to onscreen marking before its scanning infra was in place? Inexcusable. It shows a jugaad approach, cutting corners. Who will investigate why exam bodies are failing to build systems that actually work? As each vulnerability is probed, the solution should not be to simply shuffle bureaucrats. This is not an operational or logistics nightmare, but a policy and design failure.

Debate that once centred on the best measure of merit, now revolves around incompetency of the system that funnels children's futures, and is corroding merit. Those entrusted with these responsibilities must understand: students sacrifice the better part of their childhood to prepare for these soul-destroying board and entrance exams. Some smart 17- and 19-year-olds have exposed several vulnerabilities that CBSE has conceded were system flaws. Yet, these youngsters are themselves hostage to entrance exams, run by NTA and CBSE. It is a depressing betrayal of an entire generation of students, if the very bodies conducting exams cannot be trusted to hold them fairly.

दैनिक जागरण

Date: 01-06-26

विकास को बाधित करती रेवड़ी राजनीति

जीएन वाजपेयी, (लेखक सेबी एवं एलआईसी के पूर्व चेयरमैन हैं)

इस साल के लिए नियत लोकतंत्र का महोत्सव अब संपन्न हो चुका है। चार राज्यों और एक केंद्रशासित प्रदेश में चुनाव के बाद नई सरकारों ने कमान भी संभाल ली है। चुनावी राज्यों में राजनीतिक दलों ने बड़े-बड़े वादे करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी और वे प्रतिस्पर्धी लोकलुभावनवाद से प्रेरित फ्रीबीज यानी रेवड़ी संस्कृति को ही पोषित करने वाले रहे। ऐसे वादों के पीछे कहीं न कहीं विषमता का एक पहलू भी जुड़ा है, क्योंकि समृद्ध लोगों और हाशिए पर मौजूद समूहों के बीच की खाई निरंतर चौड़ी होती जा रही है। विश्व बैंक की ताजा रिपोर्ट के अनुसार लगभग 82.6 करोड़ लोग गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे हैं, जिनकी दैनिक आय तीन डॉलर से कम है। जबकि वैश्विक समृद्धि भी निरंतर बढ़ती जा रही है। स्पष्ट है कि अमीर और गरीब के बीच अंतर बढ़ने पर है और भारत भी इस वैश्विक रुझान से अछूता नहीं। विषमता के इस संदर्भ में वितरण और न्याय दो अहम कड़ियां हैं। इनसे मिलकर बनने वाली वितरणात्मक न्याय की संकल्पना केवल आर्थिक पुनर्वितरण नहीं, अपितु समाज के लिए अवसरों, जोखिमों और संसाधनों के आवंटन को नियंत्रित करने वाला एक नैतिक और राजनीतिक ढांचा भी है। एक स्थिर और समावेशी समाज के लिए यह अत्यंत आवश्यक है।

जिन समाजों में विषमता गहराई से समाई है, वहां वंचितों को लाभ पहुंचाकर मुख्यधारा से जोड़ने के लिए वितरणात्मक न्याय महत्वपूर्ण उपाय है। इस दृष्टि से कतार में खड़े अंतिम व्यक्ति को राहत पहुंचाने के लिए बनाई जाने वाली योजनाओं के पीछे भारतीय राजनीतिक दृष्टिकोण नितांत न्यायसंगत है। इसमें महत्वपूर्ण यही है कि क्या ये योजनाएं सरकारी खजाने को क्षति पहुंचाए बिना ही अभीष्ट की पूर्ति का माध्यम बन पा रही हैं या नहीं? यानी सरकारी खजाने को इसकी कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ रही है और अपेक्षा के अनुरूप परिणाम की प्राप्ति होती रही है या नहीं? आंकड़ें तो यही दर्शाते हैं कि बिना किसी शर्त के होने वाले हस्तांतरणों का दायरा 2018-19 की तुलना में 2025-26 के बीच 28.8 प्रतिशत बढ़ा है। तमाम राज्यों के लिए ऐसे उपाय पसंदीदा बनते जा रहे हैं। हालांकि ऐसे हस्तांतरणों की प्रकृति को देखें तो ये विशुद्ध उपभोग वाली सब्सिडी बन जाते हैं। इनसे प्रोत्साहनों को चोट पहुंचती है। निवेश क्षमता कुंद होती है। सरकार खजाने पर दबाव बढ़ता है। अंततः इससे वितरणात्मक न्याय के सिद्धांतों और उद्देश्यों को क्षति पहुंचती है। यह भी देखा गया है कि बहुत कुछ सहजता से प्राप्त होने की स्थिति में पुरुषार्थ का भाव घटने लगता है। वैसे भी यही श्रेयस्कर माना गया है कि किसी भूखे को भोजन कराने से बेहतर है कि उसे वे तौर-तरीके सिखाए जाएं कि उसके समक्ष कभी भुखमरी की नौबत न आए।

इस संदर्भ में नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन और मार्था नुसबाम 'क्षमता दृष्टिकोण' (कैपेबिलिटी अप्रोच) का सुझाव देते हैं। उनका तर्क है कि न्याय की दृष्टि केवल आय पर केंद्रित न होकर इस पहलू पर भी होनी चाहिए कि व्यक्तियों को कार्य करने और आगे बढ़ने के 'वास्तविक अवसर' मिलें। इसके अंतर्गत सुनिश्चित हो कि स्वास्थ्य सेवा, शिक्षा, गरिमा और काम के सार्थक अवसरों तक उनकी निर्बाध पहुंच हो। इस क्रम में नया दृष्टिकोण पूर्व-वितरण यानी प्री-डिस्ट्रीब्यूशन का है।

अधिकांश अर्थशास्त्री विषमता की स्थिति निर्मित होने के बाद पुनर्वितरण की बात करते हैं, लेकिन आधुनिक सोच विषमता को रोकने के लिए समाज के पुनर्गठन और प्रभावी शासन पर ध्यान केंद्रित करता है। अमर्त्य सेन और मार्था नुसबाम के सुझाव 'अवसर की समानता' के इसी नए दर्शन में पूरी तरह सटीक बैठते हैं, जिसका उद्देश्य ही विषमता की स्थिति निर्मित होने से रोकना है।

वैश्विक अनुभवों की बात करें तो युद्ध के बाद एक समय दक्षिण कोरिया कई अफ्रीकी देशों से गरीब था। सरकार भारी कल्याणकारी खर्च नहीं उठा सकती थी। इसके बजाय उसने सार्वभौमिक शिक्षा, तकनीकी शिक्षा, ग्रामीण विद्युतीकरण, भूमि सुधार और औद्योगिकीकरण के लिए सस्ते ऋण पर ध्यान केंद्रित किया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जर्मनी ने भी व्यावसायिक शिक्षा, प्रशिक्षु प्रणाली और सार्वजनिक स्वास्थ्य पर ध्यान केंद्रित किया। वास्तव में, यह क्षमता निर्माण का कार्य था। भारत में भी रचनात्मक योजनाएं बनी हैं। हरित क्रांति, ग्रामीण विद्युतीकरण, मुफ्त शिक्षा, मध्याह्न भोजन, मुफ्त बिजली और गैस कनेक्शन और चिकित्सा सहायता को ऐसी योजनाओं में गिना जा सकता है। हालांकि मुफ्त शिक्षा और स्वास्थ्य देखभाल सहायता अपेक्षाओं पर खरी नहीं उतर पा रही, क्योंकि स्कूली बुनियादी ढांचे, शिक्षण गुणवत्ता और अस्पताल की सुविधाओं और प्रबंधन के मोर्चे पर निवेश पर्याप्त नहीं। निजी स्कूल और निजी अस्पतालों की स्थिति बेहतर तो है, लेकिन वे गरीबों की पहुंच के दायरे से बाहर हैं। इसमें ब्राजील का उदाहरण अनुकरणीय हो सकता है। वहां वंचित परिवारों को तभी नकदी सहायता मिलती है, जब उनके बच्चे स्कूल जाते हैं, टीकाकरण पूरा करते हैं और स्वास्थ्य जांच कराते हैं। इस तरह अगली पीढ़ियां गरीबी की गर्त में जाने से बचती हैं।

भारत के संदर्भ में विडंबना यह भी है कि तमाम राज्यों की वित्तीय स्थिति दबाव में हैं, लेकिन चुनावी जीत के लिए वे रेवड़ी योजनाओं का सहारा लेने से बाज नहीं आ रहे। ऐसे वादों की पूर्ति का यही परिणाम होता है कि राज्य के पास भौतिक और सामाजिक बुनियादी ढांचे में निवेश के लिए पर्याप्त संसाधन बचे ही नहीं रह जाते। स्पष्ट है कि जोर पकड़ती इस रेवड़ी संस्कृति के दौर में हमें दृष्टिकोण बदलना ही होगा। यह आम राय से ही संभव है जब सभी दल दलगत भावना से परे उठकर सोचें। मुफ्त की रेवड़ियों का उद्देश्य चुनाव जीतना नहीं, बल्कि प्रभावी वितरणात्मक न्याय होना चाहिए। यदि इसे बिना किसी रिसाव के ही मूर्त रूप दे दिया जाएगा तो इससे न केवल सामाजिक व्यवस्था में क्रांतिकारी बदलाव प्रत्यक्ष दिखेंगे, बल्कि यह चुनावी जीत का आधार भी बनेगा।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 01-06-26

किफायती शहरी आवास आर्थिक रूप से भी फायदेमंद

अमित कपूर, (लेखक इंस्टीट्यूट फॉर कंपेटेटिवनेस के अध्यक्ष हैं। लेख में मीनाक्षी अजित का भी सहयोग है)

अधिकांश विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में शहर वह जगह होती हैं जहां उत्पादकता से जुड़े काम होते हैं, मजदूरी- पगार ज्यादा होती है और आर्थिक वृद्धि तेजी से होती है । भारत तेजी से शहरीकरण की ओर बढ़ रहा है और इसके शहरी केंद्र इस वृद्धि को बड़े पैमाने पर समायोजित करने की कोशिश कर रहे हैं। लेकिन एक ऐसा क्षेत्र है जहां शहरी नीतियां, इस अवसर के पैमाने के अनुसार नहीं ढल पाई हैं वह है आवासीय क्षेत्र । समस्या यह नहीं है कि इसे नजरअंदाज किया गया बल्कि अक्सर इसे गलत तरीके से समझा गया और कभी-कभी तो इसे गलत श्रेणी में रखा गया है। सस्ते शहरी आवास को अक्सर कल्याणकारी नीति या सब्सिडी और परोपकार जैसे काम के बीच एक सामाजिक पुनर्वितरण व्यवस्था के रूप में देखा गया। यह दृष्टिकोण पूरी तरह से यह समझने में चूक करता है कि आवासीय क्षेत्र वास्तव में अर्थव्यवस्था में क्या भूमिका निभाता है। जैसे सड़कें या बिजली की आपूर्ति, शहर की उत्पादकता बढ़ाने के लिए आधार बनती हैं, वैसे ही आवास भी उस आधार का हिस्सा है जो एक उत्पादक शहर को सक्षम बनाता है। भारत में इसका भाव केवल एक सामाजिक समस्या नहीं है बल्कि यह व्यापक आर्थिक अवसर से जुड़ी समस्या भी है और फिलहाल इस अवसर को भुनाने की कोशिश काफी हद तक नहीं हुई है।

दिसंबर 2025 में नीति आयोग की एक समिति ने संयुक्त राष्ट्र के घरेलू संकट प्रारूप का उपयोग करते हुए, महानगरों, शहरी और कस्बाई क्षेत्रों में 5 से 7 करोड़ आवास की कमी का अनुमान लगाया। वहीं, सीआईआई - नाइट फ्रैंक की एक अनुमान वाली रिपोर्ट मैं इस समस्या को और गंभीर बताया गया। सबसे रूढ़िवादी अनुमान के अनुसार, वर्ष 2030 तक शहरों में करीब 3.12 करोड़ आवास की कमी होगी। सरकार की 'सबके लिए आवास' कार्यक्रम की योजना के तहत वर्ष 2029 तक 1 करोड़ शहरी आवास जोड़ने का लक्ष्य रखा गया है जो कुछ हिस्से की जरूरतों को पूरा करेगा लेकिन अधिकांश अंतर वास्तव में संरचनात्मक सुधारों की मांग करता है। आर्थिक तर्क भी स्पष्ट और केवल भारत तक सीमित नहीं है। किसी भी अर्थव्यवस्था में आवास सबसे अधिक नेटवर्क वाले क्षेत्रों में से एक है। इसके तार सीमेंट, स्टील, लॉजिस्टिक्स, पेंट और वित्तीय सेवाओं तक फैले हैं। वर्ष 1995 से 2009 के बीच 45 देशों में किए गए आईएलओ के एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन में पाया गया कि निर्माण क्षेत्र में आर्थिक उत्पादन का गुणक हमेशा पूरे अर्थव्यवस्था के औसत से अधिक रहा, चाहे किसी भी आय वर्ग का देश हो ।

मध्य आय वाले देशों में हर 10 लाख डॉलर निवेश पर लगभग 3.6 गुना आर्थिक उत्पादन हुआ। भारत के अपने आंकड़े भी इस क्षेत्र की ताकत को दिखाते हैं। सांख्यिकी एवं कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय के अनुसार वित्त वर्ष 2024-25 में निर्माण क्षेत्र ने 8.6 फीसदी वास्तविक जीवीए वृद्धि दर्ज की जो प्रमुख क्षेत्रों में सबसे अधिक थी । सवाल यह नहीं है कि निर्माण से वृद्धि होती है या नहीं बल्कि सवाल यह है कि क्या भारत यह निवेश उस हिस्से में कर रहा है जहां जरूरत और गुणक सबसे अधिक हैं। इसके अलावा, निर्माण क्षेत्र रोजगार के प्रति अधिक संवेदनशीलता दिखाता है और यह निवेश के प्रति भी काफी प्रतिक्रियाशील है। फिर भी, अधिकांश नौकरियां कम वेतन वाली और अनौपचारिक क्षेत्र से जुड़ी हैं। वर्ष 2022 तक, अधिकांश (70 फीसदी) अकुशल निर्माण श्रमिकों को निर्धारित न्यूनतम दैनिक वेतन भी नहीं मिला। यह क्षेत्र 5 करोड़ से अधिक लोगों को रोजगार देता है, लेकिन सुरक्षा और पर्याप्त मजदूरी के बिना वे पूरी तरह से खर्च नहीं कर पाते और इसप्रकार आवास क्षेत्र में निवेश का वास्तविक गुणक प्रभाव भी सीमित रह जाता है ।

निम्न-मध्य आय वाले देशों में जब मजदूरी बहुत कम होती है तब यह प्रेरित प्रभाव दब जाता है। यदि मजदूरी को सही किया जाए और कार्यबल को औपचारिक बनाया जाए तब आवास निवेश का गुणक प्रभाव और भी व्यापक हो जाएगा। भारत इस संकट के प्रति उदासीन नहीं रहा है। वर्ष 2024 - 25 में प्रधानमंत्री शहरी आवास योजना के लिए बजट में 36 फीसदी की बढ़ोतरी कर उसे 30, 171 करोड़ रुपये किया गया जो देश का अब तक का सबसे महत्त्वाकांक्षी आवास कार्यक्रम है। लेकिन यह योजना घर खरीदने पर केंद्रित है, जिसके लिए जमीन, ऋण योग्यता और स्थिर आय की जरूरत होती है और ये तीन चीजें शहरी क्षेत्र के गरीबों के पास नहीं होती है। इस योजना में लाभार्थी के लिए निर्माण वाले घटक का फायदा केवल उन लोगों तक पहुंचता है जिनके पास पहले से जमीन है, जबकि ऋण आधारित सब्सिडी उन परिवारों के पक्ष में है जो एक औपचारिक आय पाते हैं। नतीजा यह होता है कि योजना उन लोगों तक पहुंचती है जो वास्तव में इसके दायरे से पूरी तरह बाहर नहीं हैं जबकि भूमिहीन प्रवासी, अनौपचारिक श्रमिक और फुटपाथ पर रहने वाले दैनिक मजदूर अब भी इसके दायरे से बाहर रह जाते हैं।

भारत के शहरों को अब बड़े पैमाने पर, सार्वजनिक व्यवस्था वाली किराये की आवास प्रणाली पर ध्यान देना चाहिए। मुंबई, दिल्ली या बेंगलूरु जैसे शहरों में जिन परिवारों की मासिक आय 15,000 रुपये से कम है, उनके लिए घर खरीदना वर्तमान में संभव नहीं है। जमीन की कीमतें, ब्याज दर और ऋण की अवधि इसे गणितीय रूप से असंभव बना देती हैं। ऐसे परिवारों के लिए समाधान यह है कि सार्वजनिक जमीन पर निजी डेवलपर के माध्यम से 50-60 साल के पट्टे पर किराये के मकान बनाए जाएं जहां किराया नियंत्रित हो और लंबी अवधि के कर्ज को किराये की आमदनी से सुरक्षा मिले। नीति आयोग के अनुसार, भारत की शहरी आबादी जो वर्ष 2021 में 50 करोड़ थी उसके वर्ष 2050 तक 85 करोड़ तक बढ़ने का अनुमान है। यानी शहरों में 35 करोड़ लोग और आएंगे और यह लगभग मौजूदा अमेरिका की आबादी जितना होगा। किसी संरचनात्मक आवास समाधान के अभाव में ये लोग झुग्गियां बसाएंगे, शहरों के बुनियादी ढांचे पर दबाव डालेंगे और छोटे-छोटे कमरे में भरकर रहेंगे। चीन इस संदर्भ में सबसे बड़ा उदाहरण पेश करता है। चीन ने जमीन सुधार, सरकार समर्थित डेवलपर बाजार और आक्रामक रूप से रियल एस्टेट पर दिए जाने वाले ऋण के विस्तार के माध्यम से अपनी तेज आर्थिक वृद्धि के दौर में आवास की संख्या को बड़े पैमाने पर बढ़ाया है।

भारत जैसा देश जिस गति के हिसाब से ही शहरीकरण कर रहा है, जिसका निर्माण क्षेत्र से मिलने वाला आर्थिक रिटर्न बहुत अधिक है और आवास की कमी लगभग पूरी तरह कार्यरत आबादी में केंद्रित है, उसके पास एक बड़ी आर्थिक वृद्धि की दास्तां लिखने की पूरी सामग्री है। संस्थागत पहलू भी धीरे-धीरे सुव्यवस्थित हो रहे हैं, जमीन सुधार पर चर्चा चल रही है और किराये के आवास ढांचे पर विचार-विमर्श हो रहा है। अब जरूरत है प्रश्न के दृष्टिकोण को बदलने की, मसलन हम गरीबों के लिए आवास पर कितना खर्च कर सकते हैं, इस तरह के सवालों के बजाय यह सवाल अहम है कि इस पर निवेश न करने से हम कितनी वृद्धि खो रहे हैं। यही वह जगह है जहां असली अवसर शुरू होता है।

जनसत्ता

Date: 01-06-26

कुप्रथा का दुश्चक्र

संपादकीय

कोई भी समाज तभी सभ्य और समग्र रूप से विकसित कहलाता है, जब उसमें ऊंच-नीच और किसी तरह के मतभेद की कोई दीवार नहीं होती तथा सबको उसके हिस्से का अधिकार मिलता है। मगर इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि आजादी के दशकों बाद भी भारतीय समाज में ऐसी कुप्रथाएं अपनी जड़ें जमाए हुए हैं, जहां पुरुषवादी मानसिकता के कारण महिलाओं को कमतर आंका जाता है और उन्हें शारीरिक एवं मानसिक रूप से प्रताड़ित किया जाता है। दहेज प्रथा भी इनमें से एक है, जिसके खिलाफ सख्त कानून होने के बावजूद उस पर रोक नहीं लग पा रही है। दहेज के लिए महिला का उत्पीड़न करने या उसकी हत्या कर देने की घटनाएं अक्सर सामने आती रहती हैं। ऐसे ही एक मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने शुक्रवार को सख्त टिप्पणी करते हुए कहा कि एक तरफ लड़की के परिवार से उपहार के नाम पर मोटी रकम ली जाती है और फिर उन्हें भिखारी भी कहा जाता है, यह स्थिति बेहद शर्मनाक है। शीर्ष अदालत ने स्पष्ट कहा कि समाज में यह संदेश जाना चाहिए कि दहेज के लिए बहू और उसके परिवार को प्रताड़ित करना बर्दाश्त नहीं किया जाएगा।

सवाल यह है कि जब देश में दहेज के खिलाफ कड़े कानूनी प्रावधान लागू हैं, तो आखिर इस कुरीति पर अंकुश क्यों नहीं लग पा रहा है? जाहिर है कि यह हमारे शासकीय तंत्र और सामाजिक व्यवस्था में खामियों का ही नतीजा है, जिसका खमियाजा महिलाओं और उनके परिवार को भुगतना पड़ रहा है। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो के आंकड़ों के मुताबिक, देश में वर्ष 2017 में दहेज हत्या के 7,466 मामले दर्ज हुए थे, जबकि वर्ष 2024 के दौरान ऐसे 5,737 मामले दर्ज किए गए। इसी तरह वर्ष 2023 में दहेज प्रताड़ना से जुड़े 15 हजार से अधिक मामले दर्ज । एनसीआरबी के ही अनुसार, 2024 में दहेज हत्या के 5,737 मामले दर्ज किए गए। यानी वास्तविक स्थिति अब भी गंभीर बनी हुई है। ऐसा इसलिए है, क्योंकि कई मामलों में महिलाएं मानसिक और शारीरिक प्रताड़ना का सामना करती हैं, लेकिन सामाजिक दबाव, परिवार की बदनामी और जागरूकता के अभाव में वे पुलिस में शिकायत दर्ज नहीं करा पातीं।

इसमें दोराय नहीं कि दहेज प्रथा को समाप्त करने के लिए कानूनी और सामाजिक मोर्चे दोनों पर गंभीरता से काम करने की जरूरत है। जब तक समाज की सोच में बदलाव नहीं आएगा और महिलाओं को व्यापक स्तर पर उनके अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं किया जाएगा, तब तक कानून बनाने का मकसद और उसका प्रभावी क्रियान्वयन भी अधूरा ही रहेगा। सर्वोच्च न्यायालय ने भी साफ कहा है कि आखिर लड़के शादी क्यों करते हैं, अगर बाद में लड़की और उसके परिवार का अपमान ही करना होता है। दहेज के लिए मानसिक और आर्थिक दबाव डालना एक गंभीर अपराध है और ऐसे मामलों से सख्ती से निपटा जाना चाहिए। यह विचित्र बात है कि समाज में दहेज प्रताड़ना को सामान्य घटना मान लिया जाता है, जिस कारण कई बार पुलिस की ओर से भी पीड़ित पक्ष की शिकायत दर्ज करने के बजाय दोनों पक्षों में सुलह कराने को प्राथमिकता दी जाती है। ऐसे में जरूरत इस बात की भी हैं कि दहेज से जुड़े मामलों को हर स्तर पर गंभीरता से लिया जाए और सरकारी जांच तंत्र में व्याप्त खामियों को दुरुस्त कर उसे संवदेनशील एवं जवाबदेह बनाया जाए।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 01-06-26

सुरक्षित सोशल मीडिया

संपादकीय

एक ऐसे वक्त में, जब भारत सहित तमाम देशों में बच्चों पर सोशल मीडिया के बढ़ते दुष्प्रभाव को लेकर चिंताएं बढ़ती जा रही हैं, संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार आयोग द्वारा ऑनलाइन प्लेटफॉर्म को किशोरों के लिए सुरक्षित बनाने संबंधी 'मार्गदर्शिका' जारी करना खास महत्व रखता है। 'बच्चों की ऑनलाइन सुरक्षा सुनिश्चित करना' शीर्षक से ये दिशा-निर्देश जारी किए गए हैं, जो इसलिए भी मायने रखते हैं, क्योंकि दुनिया भर में उम्र के आधार पर सोशल मीडिया पर प्रतिबंध बढ़ते जा रहे हैं। ऑस्ट्रेलिया में दिसंबर 2025 में ही 16 साल से कम उम्र के बच्चों के लिए सोशल मीडिया पर पाबंदी लग चुकी है। इसके बाद यूनान, फ्रांस, स्पेन, डेनमार्क, इंडोनेशिया और मलेशिया की संसद ने भी किशोरों के लिए कुछ इसी तरह के कदम उठाए हैं। यहां तक कि ब्रिटेन में भी अगले चंद हफ्तों में प्रतिबंधात्मक निर्देश अस्तित्व में आ सकते हैं। किंतु इस तरह के सख्त प्रतिबंध बच्चों को ऐसे चोर दरवाजे की ओर भी धकेल सकते हैं, जहां उनके लिए खतरे और अधिक हों। इसीलिए संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार आयोग ऑनलाइन प्लेटफॉर्म के डिजाइन और संचालन के तरीकों को बदलने की वकालत कर रहा है, ताकि साइबर दुनिया में बच्चों के अधिकारों की सुरक्षा कहीं बेहतर ढंग से हो सके।

भारत भी इन सबसे गाफिल नहीं है। यहां भी बच्चों और किशोरों के रोजमर्रा के जीवन में सोशल मीडिया अच्छा-खासा दखल रखने लगा है। आंकड़े बताते हैं कि 40 करोड़ बच्चे इंटरनेट का इस्तेमाल करते हैं। कोरोना- काल के बाद से इसमें खासा वृद्धि हुई है और किशोर एक तरह से डिजिटल लत के शिकार हो गए हैं। नौ से 17 वर्ष के करीब 76 फीसदी बच्चे फेसबुक, इंस्टाग्राम, यू-ट्यूब जैसे प्लेटफॉर्म का इस्तेमाल समय गुजारने के लिए करने लगे हैं। जाहिर है, यहां भी 16 साल से कम उम्र के किशारों के लिए सोशल मीडिया इस्तेमाल की पाबंदी को लेकर बहस तेज है, खास तौर से कर्नाटक, आंध्र प्रदेश या गोवा जैसे राज्यों में यहां ऐसे किसी कदम की इसलिए भी पैरवी की जाती है, क्योंकि तमाम रिपोर्ट बताती हैं कि बच्चों का इंटरनेट या सोशल मीडिया पर समय बिताना उन्हें भावनात्मक रूप से कमजोर कर रहा है। यहां तक कि उनकी सोचने-समझने की क्षमता भी प्रभावित हो रही है और ध्यान केंद्रित करने की क्षमता घटती जा रही है। इसलिए, राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग भी साइबरबुलिंग और ऑनलाइन शोषण से जुड़ी सामग्रियों के संपर्क में बच्चों के आने के प्रति अपनी चिंताएं जता चुका है।

साफ है, किसी मध्य मार्ग की सख्त जरूरत है। इसकी दरकार इसलिए भी है, क्योंकि अब पठन-पाठन के लिए इंटरनेट पर बढ़ती निर्भरता के कारण बच्चों को ऑनलाइन प्लेटफॉर्म से दूर रखना काफी मुश्किल है। ऑस्ट्रेलिया में ही एक तबका पाबंदियों की मुखालफत कर हा है, क्योंकि उसके मुताबिक, उम्र सत्यापन तकनीक से बच्चों से जुड़ी निजता के खतरे बढ़ गए हैं, उनमें अकेलापन गहराने लगा है और वे अधिक जोखिम वाले 'डार्क नेट' की ओर बढ़ने लगे हैं। इसके निराकरण के लिए 'ऑटोप्ले' या अनियमित 'स्क्रॉलिंग' पर पाबंदी लगाने या सोशल मीडिया के रोजाना इस्तेमाल की सीमाएं तय करने जैसे उपाय सुझाए जा रहे हैं, जिनका विश्लेषण अभी शेष है। भारत समग्रता में विश्वास करता है और संतुलन को सफलता की

कुंजी मानता है। कामना करनी चाहिए कि यहाँ भी किसी संतुलित राह की तलाश पूरी हो जाए, जो सोशल मीडिया के नकारात्मक असर से बच्चों को बचा सके।

Date: 01-06-26

ताकि सबकी थाली में आए शुद्ध भोजन

राजीव शुक्ला, (संसद सदस्य)

भारत में लोग अक्सर चीन का मजाक उड़ाते हैं। सोशल मीडिया पर तैरते वीडियो में बताया जाता है कि वहां लोग चमगादड़ खाते हैं, सांप और कीड़े खाते हैं, जबकि हम अपने खाने को शुद्ध बताने की कोशिश करते हैं। हालांकि, शायद ही हमने कभी सोचा है कि हमारी अपनी थाली में क्या बचा है? हम जिस दूध को हर सुबह बच्चों को पिला रहे हैं, वह कितना असली है और जिस पनीर को प्रोटीन समझकर खा रहे हैं, उसमें कितना दूध है और कितना केमिकल? जिस घी को हम परंपरा कहते हैं, उसमें कितना जानवर का फैट और कितना सिंथेटिक तेल मिल चुका है। सवाल यह नहीं कि कौन क्या खा रहा है, बल्कि प्रश्न यह है कि क्या हम सच में शुद्ध खाना खा रहे हैं?

भारत दुनिया का सबसे बड़ा दूध उत्पादक और उपभोक्ता देश है। साल 2023-24 में देश में लगभग 23.1 करोड़ टन दूध का उत्पादन हुआ, जो पूरी दुनिया के कुल दुग्ध उत्पादन का लगभग 25 प्रतिशत है। देश में प्रतिदिन प्रति-व्यक्ति औसतन 471 ग्राम दूध उपलब्ध होने का दावा किया जाता है। यहीं पर सबसे बड़ा सवाल खड़ा होता है। अगर मांग इतनी विशाल है और आपूर्ति इतनी व्यवस्थित दिखाई जाती है, तो फिर हर कुछ महीनों पर नकली दूध, नकली पनीर और मिलावटी घी की फैक्टरियां क्यों पकड़ी जाती हैं?

जब बाजार में उत्पादन मांग से कम हो, तब ईमानदारी सबसे पहले खत्म होती है। दूध में पानी मिलाया जाता है, ताकि मात्रा बढ़ सके। फिर पानी छिपाने के लिए यूरिया डाला जाता है, ताकि प्रोटीन टेस्ट पास हो जाए। कई जगह तो डिटर्जेंट मिलाया जाता है, ताकि झाग बने और दूध गाढ़ा लगे। स्टार्च, ग्लूकोज और सिंथेटिक फैट मिलाकर ऐसा तरल तैयार किया जाता है, जो दिखने में दूध लगता है, पर शरीर में जाकर वह धीरे-धीरे जहर का काम करता है। एक हालिया बड़े सर्वे में लगभग 70 प्रतिशत दूध के नमूने मानकों पर खरे नहीं उतरे थे और उनमें डिटर्जेंट, यूरिया, स्टार्च और फॉर्मेलिन जैसे तत्व पाए गए थे।

साल 2018 में भारतीय खाद्य सुरक्षा एवं मानक प्राधिकरण ने 6,432 नमूनों की जांच की और सरकार ने कहा था कि केवल 12 नमूने इतने खतरनाक थे कि उन्हें असुरक्षित कहा जा सके। हालांकि, उसी रिपोर्ट में यह भी सामने आया कि लगभग 41 प्रतिशत नमूने गुणवत्ता के मानकों पर खरे नहीं उतरे। पंजाब, हरियाणा और हिमाचल जैसे दुग्ध-पट्टी में भी हालात

चिंताजनक हैं। साल 2024 की एक रिपोर्ट के अनुसार, पिछले तीन वर्षों में जांचे गए लगभग 22 प्रतिशत दूध और दुग्ध उत्पाद मानकों के अनुरूप नहीं पाए गए। हाल ही में पंजाब में चलाए गए एक जांच अभियान में दूध के 204 नमूनों में से 68 नमूने फेल पाए गए।

पनीर आज देश के हर शहर, हर ढाबे और हरेक रेस्तरां में बिक रहा है, लेकिन सवाल यह है कि इतना दूध आ कहां से रहा है? अगर उत्पादन और वास्तविक खपत के बीच के आंकड़ों पर गौर करें, तो कई बार यह अंतर समझ से बाहर लगता है। यही वजह है कि नकली पनीर का कारोबार तेजी से बढ़ा है। स्टार्च, वनस्पति तेल, स्किम्ड मिल्क पाउडर और केमिकल मिलाकर ऐसा पदार्थ तैयार किया जाता है, जो देखने में पनीर लगता है, मगर पोषण के नाम पर धोखा होता है। साल 2025 में पंजाब में डेयरी उत्पादों की जांच में पनीर सबसे ज्यादा मिलावटी उत्पाद पाया गया।

त्योहारों के समय यह संकट और भयावह हो जाता है। त्योहारों और शादी के मौसम में मिठाइयों की मांग अचानक कई गुना बढ़ जाती है। सवाल यही है कि जितना दूध देश में वास्तविक रूप से उपलब्ध है, उससे कहीं ज्यादा मिठाइयां बाजार में आखिर कैसे भर जाती हैं? हर गली, हर दुकान और हर अस्थायी स्टॉल पर टनों में मावा, खोया, पनीर व मिठाइयां बिकती दिखाई देती हैं। कई बार खाद्य विभाग की छापेमारी में सिंथेटिक मावा, यूरिया मिला दूध, डिटर्जेंट से बना खोया और वनस्पति घी से तैयार नकली मिठाइयां पकड़ी जाती हैं। कई मिठाइयों में तो असली दूध से ज्यादा स्टार्च, रिफाइंड ऑयल, सिंथेटिक फ्लेवर व केमिकल पाए जाते हैं।

यह सिर्फ स्वास्थ्य का मुद्दा नहीं है, यह आर्थिक और नैतिक संकट से जुड़ा मसला भी है। एक गरीब परिवार अपने बच्चों के लिए दूध खरीदता है, क्योंकि उसे लगता है कि वह पोषण दे रहा है। एक मां पनीर बनाकर खुश होती है कि इससे उसके बच्चे को ताकत मिलेगी, किंतु यदि वह भोजन मिलावटी हो, तो गरीब आदमी बीमारी खरीद रहा है और उसे पता भी नहीं। खेत धीरे-धीरे रसायनों के हवाले कर दिए गए हैं। फल जल्दी बड़े दिखें, इसलिए उनमें इंजेक्शन लगाए जाते हैं। केले, आम कार्बाइड से पकाए जाते हैं। मसालों में रंग मिलाए जाते हैं। शहद तक नकली निकलता है। बाजार में बिकने वाली हर चीज अब शक पैदा करती है।

विडंबना देखिए, हम फिटनेस और स्वास्थ्य के नाम पर सबसे ज्यादा पैसे खर्च करने वाली पीढ़ी हैं। जिम जा रहे हैं, सप्लीमेंट खरीद रहे हैं, डाइट चार्ट बना रहे हैं, मगर जिस मूल भोजन पर शरीर खड़ा होता है, वही शुद्ध नहीं है। यही कारण है कि कम उम्र में हार्मोनल समस्याएं, पेट की बीमारियां, फैटी लिवर, किडनी की दिक्कतें और कैंसर जैसी समस्याएं बढ़ रही हैं।

इसी साल आंध्र प्रदेश में कथित रूप से दूषित दूध पीने से 13 लोगों की मौत तक हो गई और जांच में जहरीले रसायनों की आशंका जताई गई। दिल्ली में 1,500 किलो नकली घी बनाने वाली फैक्टरी पकड़ी गई। कानपुर में 14,000 लीटर मिलावटी तेल और नकली घी जब्त किए गए। ये घटनाएं सिर्फ खबरें नहीं हैं। ये उस व्यवस्था का आईना हैं, जहां मुनाफा इंसान की सेहत से बड़ा हो चुका है। दुखद है, भारत जैसे देश में, जहां अन्न को देवता कहा जाता है, वहीं पर भोजन सबसे बड़ा व्यापारिक धोखा बनता जा रहा है। पहले लोग भूख से डरते थे, अब लोग खाते हुए डरने लगे हैं। पहले चिंता होती थी कि खाना मिलेगा या नहीं, अब चिंता यह है कि जो मिल रहा है, वह कितना सुरक्षित है?हमें चीन पर हंसने से पहले शायद अपनी थाली में झांक लेना चाहिए। हम जो खा रहे हैं, वह सच में भोजन है भी या नहीं? ऐसे में, सरकार का दायित्व और ज्यादा बढ़ जाता है। उसे मानकों को सुधारकर उनको सख्ती से लागू करना चाहिए।

Date: 01-06-26

भारत के लिए कारगर नहीं ब्राजील जैसी इथेनॉल नीति

पंकज चतुर्वेदी, (वरिष्ठ पत्रकार)

भारत की ऊर्जा नीति इस समय एक बड़े परिवर्तनकारी मोड़ पर खड़ी है। खाड़ी के देशों के कच्चे तेल पर अपनी निर्भरता कम करने और विदेशी मुद्रा भंडार बचाने की छटपटाहट ने 'इथेनॉल सम्मिश्रण' को एक जादुई समाधान के रूप में पेश किया है। केंद्रीय सड़क परिवहन एवं राजमार्ग मंत्री का यह विजन कि 'पेट्रोल पंप नहीं, अब खेतों से चलेगा इंजन', सुनने में जितना लुभावना व क्रांतिकारी लगता है, धरातल पर इसके सामाजिक, आर्थिक और पारिस्थितिक प्रभाव उतने ही चिंताजनक हैं। प्रश्न केवल तकनीक या ईंधन के विकल्प का नहीं है, बल्कि प्रश्न हमारे बुनियादी कृषि चक्र, जल सुरक्षा और देश की खाद्य सुरक्षा के भविष्य का है।

सबसे बुनियादी चिंता तो 'भोजन बनाम ईंधन' के अंतर्द्वंद्व की है। भारत एक विशाल आबादी वाला देश है, जहां आज भी कुपोषण व खाद्य पदार्थों की बढ़ती कीमतें एक बड़ी चुनौती बनी हुई हैं। अगर हम गन्ने व मक्के जैसी फसलों को बड़े पैमाने पर इथेनॉल उत्पादन की ओर मोड़ते हैं, तो अनजाने में ही अपनी थाली की सुरक्षा को जोखिम में डाल देते हैं। यदि कृषि का एक बड़ा हिस्सा खाद्यान्न के बजाय गाड़ियों की टंकी भरने के लिए आरक्षित हो जाएगा, तो अनाज की कमी और कीमतों में उछाल आना स्वाभाविक है। हम जैसे विकासशील देश के लिए यह स्थिति 'अमीर की कार बनाम गरीब की रोटी' का संघर्ष पैदा कर सकती है।

भारत दुनिया के उन देशों में शामिल है, जो पहले से गंभीर जल संकट से जूझ रहे हैं। गन्ना एक 'जल-शोषक' फसल है। एक लीटर इथेनॉल तैयार करने में खेत से लेकर फैक्टरी तक हजारों लीटर पानी बर्बाद हो जाता है। जिन क्षेत्रों में भूजल स्तर पहले ही पाताल में जा चुका है, वहां इथेनॉल के लिए गन्ने की खेती को प्रोत्साहन देना प्रकृति के साथ क्रूर मजाक जैसा है। आर्थिक दृष्टि से देखें, तो यह मॉडल किसानों की आय दोगुनी करने के वादे के साथ आता है, पर इसके भीतर छिपे कॉरपोरेट हितों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। क्या एक औसत भारतीय उपभोक्ता अपने चालू वाहन को महज ईंधन बदलने के कारण कबाड़ में फेंकने या उसमें महंगे बदलाव की स्थिति में है?

कई दलीलें ब्राजील के बारे में दी जा रही हैं, लेकिन समझना होगा कि भारत में ब्राजील जैसी शत-प्रतिशत सफलता न मिल पाने के पीछे दोनों देशों की खेती की संरचना, संसाधनों की उपलब्धता और नीतियों का एक बड़ा बुनियादी अंतर है। भारत में जनसंख्या का घनत्व बहुत ज्यादा है और हमारी पहली प्राथमिकता 'खाद्य सुरक्षा' है। अगर हम गन्ने की फसल या अनाज (जैसे चावल और मक्का) का एक बड़ा हिस्सा इथेनॉल बनाने में खर्च कर देंगे, तो देश में चीनी और अनाज की कमी होने का खतरा पैदा हो जाएगा।

ब्राजील के पास विशाल क्षेत्रफल है और जनसंख्या घनत्व बेहद कम। उसके पास 'एनर्जी केन' जैसी गन्ने की ऐसी किस्में हैं, जो सिर्फ इथेनॉल और बायोमास के लिए उगाई जाती हैं। उन्हें खाद्य सुरक्षा की वैसी चिंता नहीं है, जैसी भारत को है। ब्राजील के प्रमुख गन्ना उत्पादक क्षेत्रों (जैसे साओ पाउलो) में गन्ने की खेती मुख्य रूप से प्राकृतिक वर्षा पर निर्भर करती

है। वहां भारत की तरह भूजल का दोहन करके सिंचाई की जरूरत नहीं पड़ती। इससे उनका मॉडल पर्यावरण के लिहाज से टिकाऊ है। भारत में अब बहुत छोटे और सीमांत किसान बचे हैं, जबकि ब्राजील में बड़े-बड़े फार्म हैं और मशीनीकृत हैं।

ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों की तलाश जरूरी है, पर यह खोज विनाशकारी नहीं होनी चाहिए। हमें इथेनॉल के लिए खाद्य फसलों के बजाय 'सेकंड जेनरेशन' इथेनॉल पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए, जो पराली, कृषि अपशिष्ट और खराब हो चुके अनाज से तैयार होता है। विकास की अंधी दौड़ में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इंजन के बिना समाज कुछ कदम पीछे रह सकता है, पर रोटी व पानी के बिना उसका अस्तित्व संभव नहीं है। सरकार को नीति निर्माण के समय केवल 'हाइड्रोकार्बन' के आंकड़ों को नहीं, बल्कि देश के 'हाइड्रो-लॉजिकल' और 'ह्यूमन-लॉजिकल' पहलुओं को भी केंद्र में रखना होगा। आत्मनिर्भरता का मार्ग खेतों को उजाड़कर नहीं, बल्कि उन्हें बचाकर ही प्रशस्त हो सकता है।